ओ३म्

हम क्यों भटक रहे हैं?

- श्री शिव कुमार शास्त्री (पूर्व सांसद)

''श्री शिव कुमार शास्त्री जी भारतीय लोकसभा के दो बार सांसद रहे थे। वे प्रसिद्ध नेता एवं संस्कृत के सुयोग्य विद्वान् थे। उनके द्वारा लिखित यह लेख सन् १९८२ में गुरुकुल प्रभात आश्रम के दशाब्दी समारोह पर प्रकाश्यमान स्मृति-ग्रन्थ 'दशाब्दी समारोह' में प्रकाशित हुआ था। अतः उपयोगी समझकर इसे पुनः प्रसारित किया जा रहा है।''

अफ्रीका के हबशियों को जब अमेरिका की मण्डी में बेचने के लिए लाया जाता था। तब एक इंगलिश लेडी 'मिस स्टो' ने एक बूढ़े हबशी की जीवनी को 'अंकल टोम्स केबिन' (Uncle Tom's Cabin) नाम की पुस्तक के रूप में लिखा। उसे इस पुस्तक के लिखने पर जेल का दण्ड मिला, पर अन्त में उसके विचार विजयी हुए और हबशियों का बेचना बन्द हुआ।

इस पुस्तक में 'स्टो' ने कई बातें बहुत महत्वपूर्ण लिखी हैं। वह लिखती है कि ''जो लोग पराधीन होते हैं, उनमें दो बातें बहुत शीघ्र पनपती हैं, पहली तो यह कि उन लोगों को अपने पहले खान-पान, रहन-सहन, चाल-चलन और जीवन के सभी दूसरे मार्गों तथा साधनों से घृणा होने लगती है। दूसरी यह कि अपने मालिकों के खान-पान, रहन-सहन, चाल-ढाल, बोल-चाल तथा जीवन के सभी साधनों में रुचि बढ़ने लगती है। उनकी दासता जितनी पुरानी होती जाती है ये दोनों बातें उतनी गहरी स्थायी और सुदृढ़ होती जाती हैं। यदि इन दासों के लिए मालिकों की ओर से शिक्षा-दीक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया जाये तो वे लोग इस शिक्षा के माध्यम से अपने आपको यहाँ तक बदल डालते हैं कि चमड़ी के बिना इनका पहचानना भी कठिन हो जाता है। ये अपनी सत्ता को, अपने अतीत जीवन को, अपने पुराने गौरव को यहाँ तक कि अपने बाप-दादों को भी भूलकर अपने को प्रत्येक बात में अपने स्वामियों के जीवन में बदलने के लिए यत्नशील रहते हैं, किन्तु ऐसा दिन कभी नहीं आयेगा कि अपने मालिकों के साथ एकम-एक कर सकें।

जो बातें इस देवी ने अपने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् लिखी हैं, उनकी यथार्थता को हम भारत के आज के ढर्रे को देखकर अनुभव कर सकते हैं। हमें भौतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त किए **३५** वर्ष हो गए,[१] किन्तु मानसिक दृष्टि से हम अब भी दास हैं, अपितु वास्तविकता के उद्घाटन के लिए यह कहना अधिक सार्थक होगा कि दासता के रोग का उभार हमारी भौतिक स्वतन्त्रता के पश्चात् अधिक हुआ है। हम में अंग्रेजियत जितनी इन **३५** वर्षों में बढ़ी है, उतनी पहले के **१५०** वर्षों में भी नहीं आयी। आज तथाकथित सुसंस्कृत और बड़े घरों में बच्चे जन्म से ही अंग्रेजी बोलते हैं। जितने अंग्रेजी के माध्यम वाले शिक्षणालयों की दुकान आज चमक रही है पहले कहाँ थी? इन स्कूलों में अपने बच्चों को केवल प्रवेश दिलाने के लिए ही अभिभावकों को महीनों दौड़-धूप करनी पड़ती है। आज अपनी इस स्थिति पर कोई विचार करने को उद्यत नहीं है कि हम कहाँ जा रहे हैं? हमारा क्या बनेगा? और हमारी इस स्थिति को देखकर संसार के दूसरे देश हमारे विषय में क्या धारणा बनाते हैं?

एक अमेरिकी पत्रकार श्री हैनरी सेंडर भारत में भ्रमण के लिए आये। भारत में भ्रमण करते हुए भारतीयों की स्थिति को देखकर जो प्रतिक्रिया उन पर हुई, वह अमेरिका में जाकर वहाँ के प्रसिद्ध पत्र 'प्रौग्रैसिव' में उन्होंने लिखी। उनके लेख का अपेक्षित भाग इस प्रकार है- 'अंग्रेजों के चले जाने के बाद भारत में **३०** वर्षों में झण्डे के सिवाय और कोई परिवर्तन नहीं आया है। .....भारतीय आपस में एक दूसरे के साथ जिस तरह व्यवहार करते हैं, उनमें भी उनके औपनिवेशक मस्तिष्क की झलक मिलती है। .....जब वे किसी भारतीय से ही बात करते है तो धीरे-धीरे उनका वार्तालाप अंग्रेजी में बदल जाता है। शायद भारतीय यह भूलना ही नहीं चाहते कि उन्हें उनके अंग्रेज शासकों ने लिखाया-पढ़ाया है। एक भारतीय व्यवहार और आचरण में अपने को योरोपीय से घटकर ही मानता है। जब वह किसी योरोपीय के साथ बात करे या रहे तो वह अपने को योरोपीय नौकर-सा मानता

---

[१] **लेखक के लेख के समय**

है। .....जब मैं भारत पहुंचा तो मैंने बराबर हिन्दी में बातचीत करने की कोशिश की। लेकिन मुझे लगा कि यह व्यर्थ ही है, क्योंकि भारतीय हिन्दी में बात करना अपना अपमान समझते हैं।'

यह है हमारे चिन्तन और व्यवहार की प्रतिक्रिया। हम भारतीयों के लिए इससे अधिक लज्जा की और कोई बात नहीं हो सकती। आश्चर्य तो यह है कि हमारे इन व्यवहारों के कारण विदेशों से हमारे राजनयिकों का अनेक बार अपमान भी हुआ, परन्तु हम हैं कि जो उस स्थिति को बदलने को उद्यत नहीं हैं। यह बड़ी प्रसिद्ध घटना हमारी स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक काल की है कि जब रूस में नियुक्त हमारे राजदूत ने अपने परिचय के कागजात अंग्रेजी में तैयार किये हुए प्रस्तुत किये तो रूस के अधिकारियों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा कि पत्र भारत अथवा रूस की भाषा में ही लिखे जा सकते हैं।

वस्तुत: बात यह है कि इस दास मनोवृत्ति के रोग का ठीक-ठीक निदान ही नहीं हुआ। जब तक रोग के कारण तक न पहुंचा जाए तब तक ऊपर की लीपा-पोती से कुछ बनने वाला नहीं है। ये रोग के कीटाणु हमारे बच्चों के मन और मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं उन्हें दी जाने वाली शिक्षा के माध्यम से। तथाकथित सुसंस्कृत घरानों में सारी शक्ति इस बात पर लग रही है कि उनका बच्चा जब पहले-पहले बोले तो अंग्रेजी में बोले। बड़े घरानों के छोटे-छोटे बालक जब फर्राटे से अंग्रेजी बोलते हैं तो उनके माता-पिता प्रसन्नता से गद्‌गद् हो जाते हैं और फिर आप आशा करते हैं कि उनमें स्वभाषा और संस्कृति के लिए राष्ट्रीय स्वाभिमान जागृत हो। वे तो यह धारणा बनाते हैं कि जो अंग्रेजी न पढ़ सकते और न ही बोल सकते वे पिछड़े हुए और असभ्य हैं।

अत: इसमें सुधार के लिए आवश्यता है कि शिक्षा के ढ़ाँचे में आमूल-चूल परिवर्तन किया जाए। ये पब्लिक और कानवेन्ट स्कूल कठोरता से एक साथ समाप्त कर दिये जावें। ये अंग्रेजी के स्कूल और कॉलिज मैकाले ने भारतीयों को शिक्षित करने के लिए नहीं अपितु अंग्रेजों की भाषा समझकर भारतीयों पर शासन करने में सुविधा प्राप्त करने के लिए खोले थे। मैकाले के निम्न शब्द बहुत प्रसिद्ध हैं, इसलिए यहाँ उनका उद्धरण प्रासंगिकता को देखकर देना उचित ही होगा।-

We must do our best to form a class who may be interpreter between us and the millions whom we govern. A class of person Indian in blood and colour, but English in tast in opinions in morals and in intellect.

आश्चर्य है कि भारत के स्वाधीन होने पर प्रत्येक राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री ने वर्तमान शिक्षा के ढांचे को भारत के लिए अनुपयुक्त बताया, इसे बदलने की बात भी कही, किन्तु हम देखते हैं कि परिवर्तन कुछ नहीं हुआ अपितु दास मनोवृत्ति की जकड़ पहले से और कड़ी होती जा रही है।

'फलक के नीचे से हम तो कभी के निकल जाते, मगर रास्ता न पाया।'

इस दिशा में लिखने के लिए बहुत कुछ है, किन्तु लेख को सीमा में रखना भी आवश्यक है।

शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना है। शारीरिक उन्नति के साधन ब्रह्मचर्य, व्यायाम और प्राणायाम, आत्मिक उन्नति के लिए यम, नियमादि को अपनाना आवश्यक है। सांसारिक उन्नति के लिए शिल्प, व्यवसाय, वाणिज्यादि साधन हैं, किन्तु प्रचलित प्रणाली से किसी एक उद्देश्य की पूर्ति भी तो नहीं होती। मोटे तौर पर इस पद्धति में अग्रलिखित त्रुटियाँ हैं-

१. सदाचार की कमी- मानवता के शत्रु काम, क्रोधादि को जीतने की शिक्षा का सर्वथा अभाव है। गाली-गलौच करना, अभक्ष्य भक्षण करना, सिगरेट, मद्य पीना आदि कुकर्म तो यहाँ उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं।

२. संस्कृति का अभाव- पाठ्यक्रम में निर्धारित ग्रन्थों में बी.ए. और एम.ए. तक जो विचार सामग्री विद्यार्थियों ने प्राप्त की है, उससे प्रभावित होना स्वाभाविक है, किन्तु ग्रन्थों में चाहे और जो कुछ हो पर आर्य-संस्कृति क्या है? यह उसमें नहीं है।

३. ब्रह्मचर्य का अभाव- ब्रह्मचर्य बिना गुरुओं के नियन्त्रण तथा सादे और तपोमय जीवन के बिना सम्भव नहीं है। उसका यहाँ सर्वथा अभाव है।

४. दूषित नागरिक रहन-सहन में निवास- चारों ओर सिनेमाओं की भरमार, सिनेमा कलाकारों के नाम और आकृतियों से बच्चा-बच्चा परिचित है, उस पर भी कोढ़ में खाज, घरों में टेलीविजन। तरंग में गुनगुनाने पर युवकों के मुख से कोई सिनेमा का गीत ही निकलेगा। किसी अच्छे कवि का भक्ति और देशोत्थान का गीत अपवाद की वस्तु है।

५. सहशिक्षा- प्राचीन मर्यादा थी कि बालक-बालिकाओं के विद्यालय पृथक्-पृथक् और दूर-दूर हों। लड़कियों की शिक्षा के लिए देवियाँ और बालकों को पढ़ाने के लिए पुरुष अध्यापक रहें। यह बहुत मनोवैज्ञानिक और दूरदर्शितापूर्ण पद्धति थी। प्रारम्भ में आर्यसमाज ने अपने शिक्षणालयों में यह दृढ़ता बरती भी, किन्तु समय का प्रभाव सब को बहा ले गया। उर्दू के शायर अकबर के शब्दों में-

'मयखानये रिफार्म की चिकनी जमीन पै।
वाहज का खानदान आखिर फिसल गया॥'

६. सांस्कृतिक कार्यक्रम- सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम पर असांस्कृतिक नृत्य, अभिनय आज के मन्त्रियों के सम्मान में हमारे बालक-बालिकाएं नाचने और गाने के कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं और मन्त्रीजी प्रसन्न मुद्रा में उनकी सराहना करते हैं। यहाँ तो कुंए में भांग पड़ने वाली कहावत चरितार्थ हो रही है।

७. गृहस्थी चक्र का प्रभाव- शिक्षा काल में घर में ही रहने से कुटुम्बियों की चिन्ता, रोग, शोक, लड़ाई और झगड़ों के प्रभाव से बच्चे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

८. फीस के बोझ का दबाव- स्कूल और कॉलेजों की भारी-भरकम फीस का जुटाना भी एक समस्या है। निर्धन ट्यूशन पढ़ा-पढ़ा कर उसे जुटाने का यत्न करते हैं।

९. सादे रहन-सहन का अभाव- विद्यार्थी काल में भी व्यवसाध्य भूषाओं का प्रचलन। स्कूलों तक तो निर्धारित वेश (यूनिफार्म) से कुछ सुविधा प्राप्त हो जाती है, किन्तु कॉलेज में पहुंचते ही यह बांध टूट जाता है और वहाँ का छात्र प्रतिदिन एक नई भूषा में श्रेणी में पहुंचता है। इससे असमर्थ छात्रों में हीनता और डाह के भाव जगकर सामाजिक जीवन को विषाक्त बनाते हैं।

१०. अपव्यय- अध्ययन काल में ही फिजूलखर्ची का भाव बन जाता है। विशेषकर कॉलेज, हॉस्टलों में एक-दूसरे छात्र के कमरे में जाने पर कॉफी, चाय, जूस, पान, सिगरेट आदि पेश किये जाते हैं। अध्ययन काल में इस अपव्यय का अत्याचार अभिभावकों को सहना पड़ता है और बाद में यह स्वभाव उन्हें जीवन-भर दु:ख देता है।

११. गुरु गौरव का अभाव- प्राचीन परम्परा में ईश्वर के बाद माता-पिता से भी बढ़कर गुरु के प्रति आदर के भाव होते थे। मनु ने गुरु को माता और पिता दोनों का समन्वित रूप बताकर आदेश दिया है कि उससे कभी द्रोह न करे, किन्तु आज की शिक्षा में यह भावना लुप्त हो गई है। अत: गुरु के आचार से प्रेरणा लेने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

१२. देश सेवा की भावना का अभाव- पढ़ाई में जब फीस चुकाई जाती है तो उनके निर्माण में किसी का क्या एहसान है? अत: राष्ट्र के लिए त्याग और बलिदान के भाव जागृत ही नहीं होते।

१३. आत्मसम्मान का अभाव- किसी प्रकार भी सही नौकरी प्राप्त करना ही परम लक्ष्य है। प्रार्थना-पत्र के नीचे 'मोस्ट ओबिडियेन्ट सर्वेन्ट' लिखने में कोई संकोच नहीं होता। इतने पर भी नौकरी नहीं मिलती। हमारे अध्ययन काल में हास्य-रस के कवि हमारे एक साथी ने काशी में **१९३४** में एक कविता लिखी थी कि 'मोस्ट ओबिडियेन्ट सर्वेन्ट लिखना बहुत पुरानी बात हो गई। अब इससे आगे पढ़कर लिखना चाहिए कि मोस्ट ओबिडियेन्ट हूँ, आपके सर्वेन्ट के सर्वेन्ट का सर्वेन्ट हूँ।' तब शायद नौकरी की कुछ आशा हो सकती है।

१४. नास्तिकता- जो छात्रावासों और कक्षाओं का ढांचा है उसमें ईश्वर-भक्ति, आत्मिक चिन्तन का नितान्त अभाव है। अत: खाना-पीना और मौज उड़ाना यही जीवन का उद्देश्य बनता है। प्राचीन समय में यह विचारधारा 'पिब, भुङ्क्ष्व, रमस्व च' (Eat, drink and be merry) राक्षसों की थी, आर्यों की नहीं। स्पष्ट है कि इस विपरीत चक्र को सुधारने का काम गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही कर सकती है।